श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.14 - तृतीय सोपान (अर्थ)

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयां(व्)सि, बहूनि ब्रह्मवादिनः ।

तेषां(म्) विकल्पप्राधान्य - मुताहो एकमुख्यता ॥ 1॥

उद्धव जी ने पूछा- 'श्रीकृष्ण! ब्रह्मवादी महात्मा आत्म कल्याण के अनेकों साधन बतलाते हैं। उनमें अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एक की प्रधानता है?।।1।।

भवतोदाहृतः(स्) स्वामिन्, भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।

निरस्य सर्वतः(स्) सं(ङ्)गं(म्), येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ 2॥

मेरे स्वामी! आपने तो अभी-अभी भक्तियोग को ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है; क्योंकि इसी से सब ओर से आसक्ति छोड़कर मन आप में ही तन्मय हो जाता है।।2।।

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये, वाणीयं(म्) वेदसं(ञ्)ज्ञिता ।

मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता, धर्मो यस्यां(म्) मदात्मकः ॥ 3॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! यह वेदवाणी समय के फेर से प्रलय के अवसर पर लुप्त हो गयी थी; फिर जब सृष्टि का समय आया, तब मैंने अपने संकल्प से ही इसे ब्रह्मा को उपदेश किया, इसमें मेरे भागवत धर्म का ही वर्णन है।।3।।

तेन प्रोक्ता च पुत्राय, मनवे पूर्वजाय सा ।

ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् , सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ 4॥

ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनु को उपदेश किया और उनसे भृगु, अंगिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु- इन सात प्रजापति-महर्षियों ने ग्रहण किया।।4।।

तेभ्यः(फ्) पितृभ्यस्तत्पुत्रा, देवदानवगुह्यकाः ।

मनुष्याः(स्) सिद्धगन्धर्वाः(स्), सविद्याधरचारणाः ॥ 5॥

किं(न्)देवाः(ख्) किन्नरा नागा, रक्षः(ख्) किम्पुरुषादयः ।

बह्व्यस्तेषां(म्) प्रकृतयो, रजः(स्)सत्त्वतमोभुवः ॥ 6॥

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते, भूतानां(म्) मतयस्तथा ।

यथाप्रकृति सर्वेषां(ञ्), चित्रा वाचः(स्) स्रवन्ति हि ॥ 7॥

तदनन्तर इन ब्रह्मर्षियों की सन्तान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव, किन्नर, नाग, राक्षस और किम्पुरुष आदि ने इसे अपने पूर्वज इन्हीं ब्रह्मर्षियों से प्राप्त किया। सभी जातियों और व्यक्तियों के स्वभाव-उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुण के कारण भिन्न-भिन्न हैं; इसिलये उसमें और उनकी बुद्धि-वृत्तियों में भी अनेकों भेद हैं। इसलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उस वेदवाणी का भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। वह वाणी ही ऐसी अलौकिक है कि उससे विभिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही है।।5-7।।

एवं(म्) प्रकृतिवैचित्र्याद् - भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।

पारम्पर्येण केषाञ्चित् - पाखण्डमतयोऽपरे ॥ 8॥

इसी प्रकार स्वभाव भेद तथा परम्परागत उपदेश के भेद से मनुष्यों की बुद्धि में भिन्नता आ जाती है और कुछ लोग तो बिना किसी विचार के वेदविरुद्ध पाखण्ड मतावलम्बी हो जाते हैं।।8।।

मन्मायामोहितधियः(फ्), पुरुषाः(फ्) पुरुषर्षभ ।

श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं(म्), यथाकर्म यथारुचि ॥ 9॥

प्रिय उद्धव! सभी की बुद्धि मेरी माया से मोहित हो रही है; इसी से वे अपने-अपने कर्म-संस्कार और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आत्मकल्याण के साधन भी एक नहीं, अनेकों बतलाते हैं।।9।।

धर्ममेके यशश्चान्ये ,कामं(म्) सत्यं(न्) दमं(म्) शमम् ।

अन्ये वदन्ति स्वार्थं(म्) वा, ऐश्वर्यं(न्) त्यागभोजनम् ।।10।।

पूर्वमीमांसक धर्म को, साहित्याचार्य यश को, कामशास्त्री काम को, योगवेत्ता सत्य और शमदमादि को, दण्डनीतिकार ऐश्वर्य को, त्यागी त्याग को और लोकायतिक भोग को ही मनुष्य-जीवन का स्वार्थ-परम लाभ बतलाते हैं।।10।।

केचिद् यज्ञतपोदानं(म्), व्रतानि नियमान् यमान् ।

आद्यन्तवन्त एवैषां(म्), लोकाः(ख्) कर्मविनिर्मिताः ।

दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः(ह्), क्षुद्रानन्दाः(श्) शुचार्पिताः ॥ 11॥

कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदि को पुरुषार्थ बतलाते हैं। परन्तु ये सभी कर्म हैं; इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाश वाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ हैं-नगण्य है और वे लोग भोग के समय भी असूया आदि दोषों के कारण शोक से परिपूर्ण हैं। (इसलिये इन विभिन्न साधनों के फेर में न पड़ना चाहिये)।।11।।

मय्यर्पितात्मनः(स्) सभ्य, निरपेक्षस्य सर्वतः ।

मयाऽऽत्मना सुखं(म्) यत्तत् , कुतः(स्) स्याद् विषयात्मनाम् ॥ 12॥

प्रिय उद्धव! जो सब ओर से निपेक्ष-बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह विषय-लोलुप प्राणियों को किसी प्रकार मिल नहीं सकता।।12।।

अकिं(ञ्)चनस्य दान्तस्य, शान्तस्य समचेतसः ।

मया सन्तुष्टमनसः(स्), सर्वाः(स्) सुखमया दिशः ॥ 13॥

सब प्रकार के संग्रह-परिग्रह से रहित-अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्ति से ही मेरे सान्निध्य का अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उसके लिये आकाश का एक-एक कोना आनन्द से भरा हुआ है।।13।।

न पारमेष्ठ्यं(न्) न महेन्द्रधिष्ण्यं(न्),

न सार्वभौमं(न्) न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं(म्) वा,

मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥ 14॥

जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का, उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न वह स्वर्ग से भी श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता।।14।।

न तथा मे प्रियतम, आत्मयोनिर्न शं(ङ्)करः ।

न च सं(ङ्)कर्षणो न श्रीर्- नैवात्मा च यथा भवान् ॥ 15॥

उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलराम जी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मी जी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है।।15।।

निरपेक्षं(म्) मुनिं(म्) शान्तं(न्), निर्वैरं(म्) समदर्शनम् ।

अनुव्रजाम्यहं(न्) नित्यं(म्), पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ 16॥

जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तन में तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्मा के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणों की धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाये और मैं पवित्र हो जाऊँ।।16।।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः(श्),

शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।

कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्,

तन्नैरपेक्ष्यं(न्) न विदुः(स्) सुखं(म्) मम ॥ 17॥

जो सब प्रकार के संग्रह-परिग्रह से रहित हैं-यहाँ तक कि शरीर आदि में भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेम के रंग में रँग गया है, जो संसार की वासनाओं से शान्त-उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता-उदारता के कारण स्वभाव से ही समस्त प्राणियों के प्रति दया और प्रेम का भाव रखते हैं, किसी प्रकार की कामना जिनकी बुद्धि का स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूप का अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त होता है ।।17।।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो, विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः(फ्) प्रगल्भया भक्त्या, विषयैर्नाभिभूयते ॥ 18॥

उद्धव जी! मेरा जो भक्त अभी जितेंद्रिये नहीं हो सका है और संसार के विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं-अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षण में बढ़ने वाली मेरी प्रगल्भ भक्ति के प्रभाव से प्रायः विषयों से पराजित नहीं होता।।18।।

यथाग्निः(स्) सुसमृद्धार्चिः(ख्), करोत्येधां(ध्)सि भस्मसात् ।

तथा मद्विषया भक्ति- रुद्धवैनां(ध्)सि कृत्स्नशः ॥ 19॥

उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशि को पूर्णतया जला डालती है।।19।।

न साधयति मां(म्) योगो, न सां(ङ्)ख्यं(न्) धर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ 20॥

उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।।20।।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः(श्), श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः(स्) सताम् ।

भक्तिः(फ्) पुनाति मन्निष्ठा, श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ 21॥

मैं संतों का प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्ति से ही पकड़ में आता हूँ। मुझे प्राप्त करने का यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र-जाति दोष से मुक्त कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल हैं।।21।।

धर्मः(स्) सत्यदयोपेतो, विद्या वा तपसान्विता ।

मद्भक्त्यापेतमात्मानं(न्), न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥ 22॥

इसके विपरीत जो मेरी भक्ति से वन्चित हैं, उनके चित्त को सत्य और दया से युक्त, धर्म और तपस्या से युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करने में असमर्थ हैं।।22।।

कथं(म्) विना रोमहर्षं(न्), द्रवता चेतसा विना ।

विनाऽऽनन्दाश्रुकलया, शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः ॥ 23॥

जब तक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्द के आँसू आँखों से छलकने नहीं लगते तथा अन्तरंग और बहिरंग भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तब तक इसके शुद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है।।23।।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं(म्),

रुदत्यभीक्ष्णं(म्) हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च,

मद्भक्तियुक्तो भुवनं(म्) पुनाति ॥ 24॥

जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षण के लिये भी रोने का ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिल-खिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचें स्वर से गाने लगता है, तो कहीं नाचने नागता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है ।।24।।

यथाग्निना हेम मलं(ञ्) जहाति,

ध्मातं(म्) पुनः(स्) स्वं(म्) भजते च रूपम् ।

आत्मा च कर्मानुशयं(म्) विधूय,

मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ 25॥

जैसे आग में तपाने पर सोना मैल छोड़ देता है-निखर जाता है और अपने असली शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओं से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ।।25।।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ,

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं(ञ्),

चक्षुर्यथैवां(ञ्)जनसम्प्रयुक्तम् ॥ 26॥

उद्धव जी! मेरी परमपावन लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों-ज्यों चित्त का मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म-वस्तु के-वास्तविक तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं-जैसे अंजन के द्वारा नेत्रों का दोष मिटने पर उसमें सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है।।26।।

विषयान् ध्यायतश्चित्तं(म्), विषयेषु विषज्जते ।

मामनुस्मरतश्चित्तं(म्), मय्येव प्रविलीयते ॥ 27॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जता है। इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलों का चिन्तन छोड़ दो।अरे भाई! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथ का राज्य।।27।।

तस्मादसदभिध्यानं(म्), यथा स्वप्नमनोरथम् ।

हित्वा मयि समाधत्स्व, मनो मद्भावभावितम् ॥ 28॥

इसलिये मेरे चिन्तन से तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरह से-एकाग्रता से मुझमें ही लगा दो।।28।।

स्त्रीणां(म्) स्त्रीसं(ङ्)गिनां(म्) सं(ङ्)गं(न्), त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।

क्षेमे विविक्त आसीनश् - चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ 29॥

संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियों का संग दूर से ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा ही चिन्तन करे।।29।।

न तथास्य भवेत् क्लेशो, बन्धश्चान्यप्रसं(ङ्)गतः ।

योषित्सं(ङ्)गाद् यथा पुं(व्)सो, यथा तत्सं(ङ्)गिसं(ङ्)गतः ॥ 30॥

प्यारे उद्धव! स्त्रियों के संग से और स्त्रीसंगियों के-लम्पटों के संग से पुरुष को जैसे क्लेश और बन्धन में पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसी के भी संग से नहीं होती।।30।।

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष, यादृशं(म्) वा यदात्मकम् ।

ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे, ध्यानं(न्) त्वं(म्) वक्तुमर्हसि ॥ 31॥

उद्धव जी ने पूछा- 'कमलनयन श्यामसुन्दर! आप कृपा करके यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूप से, किस प्रकार और किस भाव से ध्यान करे?'।।31।।

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः(स्), समकायो यथासुखम् ।

हस्तावुत्सं(ङ्)ग आधाय, स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ 32॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही-ऐसे आसन पर शरीर को सीधा रखकर आराम से बैठ जाये, हाथों को अपनी गोद में रख ले और दृष्टि अपनी नासिका के अग्रभाग पर जमावे।।32।।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं(म्), पूरकुम्भकरेचकैः ।

विपर्ययेणापि शनै - रभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ 33॥

इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक-इन प्राणायामों के द्वारा नाड़ियों का शोधन करे। प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियों को जीतने का भी अभ्यास करना चाहिये।।33।।

हृद्यविच्छिन्नमों(ङ्)कारं(ङ्), घण्टानादं(म्) विसोर्णवत् ।

प्राणेनोदीर्य तत्राथ, पुनः(स्) सं(व्)वेशयेत् स्वरम् ॥ 34॥

हृदय में कमलनालगत पतले सूत के समान ऊँकार का चिन्तन करे प्राण के द्वारा उसे ऊपर ले जाये और उसमें घण्टानाद के समान स्वर स्थिर करे। उस स्वर का ताँता टूटने न पावे।।34।।

एवं(म्) प्रणवसं(य्)युक्तं(म्), प्राणमेव समभ्यसेत् ।

दशकृत्वस्त्रिषवणं(म्), मासादर्वाग् जितानिलः ॥ 35॥

इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ऊँकार सहित प्राणायाम का अभ्यास करे। ऐसा करने से एक महीने के अन्दर ही प्राणवायु वश में हो जाता है।।35।।

हृत्पुण्डरीकमन्तः(स्)स्थ - मूर्ध्वनालमधोमुखम् ।

ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्र - मष्टपत्रं(म्) सकर्णिकम् ॥ 36॥

इसके बाद ऐसा चिन्तन करे कि हृदय एक कमल है, वह शरीर के भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी डंडी तो ऊपर की ओर है और मुँह नीचे की ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपर की ओर होकर खिल गया है, उसके आठ दल (पंखुड़ियाँ) हैं और उनके बीचोबीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार कर्णिका (गद्दी) है।।36।।

कर्णिकायां(न्) न्यसेत् सूर्य - सोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।

वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं(म्), ममैतद् ध्यानमं(ङ्)गलम् ॥ 37॥

कर्णिका पर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का न्यास करना चाहिये। तदनन्तर अग्नि के अन्दर मेरे इस रूप का स्मरण करना चाहिये। मेरा यह स्वरूप ध्यान के लिये बड़ा ही मंगलमय है।।37।।

समं(म्) प्रशान्तं(म्) सुमुखं(न्), दीर्घचारुचतुर्भुजम् ।

सुचारुसुन्दरग्रीवं(म्), सुकपोलं(म्) शुचिस्मितम् ॥ 38॥

समानकर्णविन्यस्तस् - फुरन्मकरकुण्डलम् ।

हेमाम्बरं(ङ्) घनश्यामं(म्), श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥ 39॥

शं(ङ्)खचक्रगदापद्म - वनमालाविभूषितम् ।

नूपुरैर्विलसत्पादं(ङ्), कौस्तुभप्रभया युतम् ॥ 40॥

द्युमत्किरीटकटक - कटिसूत्रां(ङ्)गदायुतम् ।

सर्वां(ङ्)गसुन्दरं(म्) हृद्यं(म्), प्रसादसुमुखेक्षणम् ।

सुकुमारमभिध्यायेत् - सर्वां(ङ्)गेषु मनो दधत् ।।41।।

मेरे अवयवों की गठन बड़ी ही सुडौल है। रोम-रोम से शान्ति टपकती है। मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है। घुटनों तक लंबी मनोहर चार-भुजाएँ हैं। बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है। मरकत-मणि के समान सुस्निग्ध कपोल

हैं। मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान की अनोखी ही छटा है। दोनों ओर के कान बराबर हैं और उसमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं। वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा है। श्रीवत्स एवं लक्ष्मी जी का चिह्न वक्षःस्थल पर दायें-बायें विराजमान है। हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए हैं। गले में वनमाला लटक रही है। चरणों में नूपुर शोभा दे रही हैं, गले में कौस्तुभ मणि जगमगा रही है।अपने-अपने स्थान पर चमचमाते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभायमान हो रहे हैं। मेरा एक-एक अंग अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यार भरी चितवन कृपा-प्रसाद की वर्षा कर रही है।उद्धव! मेरे इस सुकुमार रूप का ध्यान करना चाहिये और अपने मन को एक-एक अंग में लगाना चाहिये।।38-41।।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो, मनसाऽऽकृष्य तन्मनः ।

बुद्ध्या सारथिना धीरः(फ्), प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ 42॥

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच ले और मन को बुद्धिरूप सारथि की सहायता से मुझमें ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अंग में क्यों न लगे।।42।।

तत् सर्वव्यापकं(ञ्) चित्त - माकृष्यैकत्र धारयेत् ।

नान्यानि चिन्तयेद् भूयः(स्), सुस्मितं(म्) भावयेन्मुखम् ॥ 43॥

जब सारे शरीर का ध्यान होने लगे, तब अपने चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और अन्य अंगों का चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुस्कान की छटा से युक्त मेरे मुख का ही ध्यान करे।।43।।

तत्र लब्धपदं(ञ्) चित्त - माकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।

तच्च त्यक्त्वा मदारोहो, न किं(ञ्)चिदपि चिन्तयेत् ॥ 44॥

जब चित्त मुखारविन्द में ठहर जाये, तब उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे। तदनन्तर आकाश का चिन्तन भी त्यागकर मेरे स्वरूप में आरूढ़ हो जाये और मेरे सिवा किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे।।44।।

एवं(म्) समाहितमतिर् - मामेवात्मानमात्मनि ।

विचष्टे मयि सर्वात्मन्, ज्योतिर्ज्योतिषि सं(य्)युतम् ॥ 45॥

जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योति से मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपने में मुझे और मुझ सर्वात्मा में अपने को अनुभव करने लगता है।।45।।

ध्यानेनेत्थं(म्) सुतीव्रेण, युं(ञ्)जतो योगिनो मनः ।

सं(य्)यास्यत्याशु निर्वाणं(न्), द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ 46॥

जो योगी इस प्रकार तीव्र ध्यान योग के द्वारा मुझमें ही अपने चित्त का संयम करता है, उसके चित्त से वस्तु की अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्ति के लिये होने वाले कर्मों का भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।।46।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(व्)स्यां(म्)

सं(व्)हितायामेकादशस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/Nk6UjXPxhwM

SBRK